International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 11-12-2025; Accepted: 01-02-2026; Published: 16-02-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 120-125

समकालीन कविताओं में पर्यावरण समस्याएं: एक अध्ययन

आतिरा एम
सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, विमला कॉलेज, त्रिशूर, केरल, भारत

सारांश
प्रकृति, जो जीवन के आदि से लेकर अंत तक हर महत्वपूर्ण घड़ी में हमारा साथ देती है, आज निर्मम दोहन का शिकार हो रही है। हिंदी साहित्य जगत इस वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं है। यही कारण है कि आज की बदलती सामाजिक परिस्थितियों में 'पर्यावरण' विमर्श का एक अहम मुद्दा बनकर उभरा है। आज रचनाकार प्रकृति को केंद्र में रखकर निरंतर साहित्य सृजन कर रहे हैं, जिसमें कविताएँ अपने लघु आकार के बावजूद अपनी बात सशक्त ढंग से कहने में सक्षम हैं।
समकालीन कविताओं में अब प्रकृति का पारंपरिक गुणगान नहीं, बल्कि उस पर हो रहे अत्याचार और धरती से उसके विलुप्त होने की आशंकाओं को प्रमुखता से व्यक्त किया जा रहा है। इस आलेख में हिंदी कविता के विभिन्न पड़ावों पर प्रकृति–चित्रण के साथ–साथ, समकालीन युग में उसके बदले हुए स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, जसिंता केरकेट्टा, कुंवर नारायण, पार्वती तिर्की और केदारनाथ सिंह जैसे चुनिंदा कवियों की रचनाओं के माध्यम से प्रकृति की वर्तमान यथार्थ स्थिति को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

मूल शब्दः समकालीन हिंदी कविता,पर्यावरण–विमर्श, प्रकृति–दोहन, विस्थापन, अस्तित्व–संकट, उपभोक्तावाद, बाज़ारीकरण

प्रकृति मानव कल्याण के मूलमंत्रों में सशक्त योगदान देने वाला एक अभिन्न घटक है। वह अनादिकाल से लेकर मानव विकास के हर एक चरण में हमारा साथ देती आई है। वह एक अविरल बहती धारा है, जिसमें डुबकी लगाकर हम अपने जीवन के महत्व को पहचान सकते हैं। प्रकृति, जिसे हम प्रेम और आदर से 'प्रकृति माता' कहते हैं, वह वास्तव में हमारे लिए मातृ–तुल्य और पूजनीय है। वह सिर्फ हमारा ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीव–जंतुओं के अस्तित्व के लिए आधारभूमि है। प्रकृति वह अतुल्य शक्ति है, जो विविधता में एकता लाकर अपने सभी बच्चों को एक साथ, बिना किसी रुकावट के आगे ले जाने का कार्य करती है।
किंतु, विडंबना तब उत्पन्न हुई जब मानव अपनी माता की गोद से निकलकर, धीरे–धीरे तथाकथित 'विकसित मानव' बनने की दौड़ में शामिल हो गया। "प्राचीन काल में मानव अत्यंत कृतज्ञ भाव से प्रकृति से जो मिलता था उन्हें ग्रहण करता था । प्रकृति को किसी ना किसी प्रकार की हानी पहुंचाना पाप समझा जाता था। भौतिक विकास के फलस्वरूप प्रकृति का असीमित दोहन प्रारंभ हुआ।"[1] जो मानव कल तक प्रकृति के स्नेह–सिक्त दुग्ध–पान पर पला था, आज वह उसका रक्त चूसने पर आमादा हो गया है। उपभोक्तावाद और औद्योगिकीकरण की आंधी में भटकता मानव अब अपनी ही माता का सबसे बड़ा शत्रु बन गया है और उसके अस्तित्व को ही चुनौती दे रहा है। मानव मन इतना विषैला हो गया है कि स्वार्थ–पूर्ति के लिए वह अपनी ही कब्र खोद रहा है। वह प्रकृति की एक–एक भुजा– जैसे नदी, वायु, मिट्टी–को धीरे–धीरे काटकर अपने विनाश की ओर बढ़ रहा है।
इस बदलते परिवेश ने साहित्य जगत के लिए एक नई पृष्ठभूमि तैयार कर दी है। जिस साहित्य में अनादिकाल से लेकर अब तक प्रकृति के सौंदर्य एवं उसके विभिन्न रूपों का चित्रण किया गया है, वही साहित्य आज उसकी रक्षा के लिए उसके अस्तित्व की गुहार लगा रहा है। मानव जीवन और प्रकृति के रिश्तों में आई इस संवेदनहीनता ने साहित्य में एक नया विमर्श पैदा कर दिया है।
इस अध्ययन का उद्देश्य यह रेखांकित करना है कि समकालीन कविता साहित्य में 'प्रकृति शोषण' का चित्रण किस प्रकार हुआ है और उसका यथार्थ परिदृश्य क्या है।

पर्यावरण और साहित्य का अंतर्संबंध – प्रकृति चित्रण से 'पर्यावरण चेतना' तक का बदलाव।
साहित्य चाहे किसी भी देश या दौर का हो, पर्यावरण उसमें हमेशा से एक अनिवार्य हिस्सा रहा है। भारतीय साहित्य के नज़रिए से देखें, तो प्रकृति का चित्रण मुख्य रूप से दो रूपों, 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' में विशेष महत्व रखता है।
प्राचीन और मध्यकालीन दौर में प्रकृति का उपयोग अक्सर मानवीय भावनाओं को उभारने के लिए किया जाता था। जहाँ एक ओर बसंत, खिले फूल और महकती हवा 'संयोग शृंगार' को गहरा करती थी, वहीं दूसरी ओर तपती धूप, घने काले बादल और कड़कड़ाती ठंड 'वियोग' की पीड़ा को और बढ़ा देती थी। उस समय प्रकृति का काम अक्सर इंसान के जज्बातों को 'उद्दीप्त' करना भर था।
लेकिन, आधुनिक काल के आते ही कविता और प्रकृति के रिश्तों में एक बड़ा बदलाव आया। यहाँ कवियों ने पुरानी लकीर पीटनी छोड़ दी और प्रकृति को उसके असली और स्वतंत्र रूप में देखना शुरू किया। भारतेन्दु और द्विवेदी युग से लेकर छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद तक का सफर तय करते हुए, समकालीन कविता ने अब एक नई दिशा पकड़ ली है। आज के दौर में प्रकृति–चित्रण केवल सुंदरता को निहारने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह अब गहरे चिंतन और विमर्श के नए दरवाजे भी खोल रहा है।
आदिकाल की पहचान भले ही वीरगाथाओं और सिद्ध–नाथ साहित्य से हो, लेकिन इस दौर की कविताओं में प्रकृति के विविध रंग भी खूब देखने को मिलते हैं। आदिकालीन हिंदी साहित्य में प्रकृति का इस्तेमाल ज़्यादातर भावनाओं को तीव्र करने वाले 'उद्दीपन' के रूप में ही हुआ है। हालाँकि, जब कवि पहाड़ों, नगरों, नदियों या वनों का वर्णन करते हैं, तो वहाँ प्रकृति का स्वतंत्र 'आलम्बन' रूप भी उभरकर सामने आता है। इसके अलावा, कवियों ने वीर रस और शृंगार रस का प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रकृति को एक 'सहायक' या पृष्ठभूमि की तरह बड़ी कुशलता से पिरोया है।
दूसरी ओर, सिद्ध और नाथ साहित्य में प्रकृति का रूप थोड़ा अलग है। यहाँ प्रकृति केवल दृश्य नहीं, बल्कि उनकी 'साधना–पद्धति' की प्रतीक है। सिद्धों और नाथों ने अपनी जटिल

आध्यात्मिक अवस्थाओं– जैसे हठयोग, नाड़ी– शोधन, निर्वाण, सहस्रार चक्र और प्राणवायु– को सरल भाषा में समझाने के लिए सूरज, चाँद, नदी और आकाश जैसे प्राकृतिक उदाहरणों का सहारा लिया है।

भक्तिकाल में हमें 'बारहमासा' शैली का जो उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है, वह प्रकृति और मानव मन को एक धागे में पिरोने का अद्‌भुत काम करता है। इस काल में प्रकृति का उपयोग केवल बाहरी सुंदरता दिखाने के लिए नहीं किया गया, बल्कि इसे आध्यात्मिकता को पोषित करने वाले एक माध्यम के तौर पर देखा गया। कबीरदास ने तो प्रकृति को दार्शनिक प्रतीकों का जामा पहना दिया। उदाहरण के लिए–

"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।" आत्मा और परमात्मा की एकता दिखने केलिए उन्हों प्रकृति की सहारा लिया। मलिक मोहम्मद जायसी ने 'नागमती' के विरह–वर्णन में 'बारहमासा' शैली का जो मर्मस्पर्शी प्रयोग किया है, वह अद्वितीय है। उनके काव्य में प्रकृति केवल एक पृष्ठभूमि नहीं रहती, बल्कि नायिका के दुख–दर्द में बराबर की हिस्सेदार बन जाती है।

दूसरी ओर, सूरदास जी का प्रकृति–चित्रण वात्सल्य और सौंदर्य से सराबोर है। उनकी रचनाओं में यमुना का तट, कदम्ब की छाँव, ब्रज की कुंजें और गाएँ – ये सब केवल दृश्य नहीं हैं, बल्कि श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं के अभिन्न सखा और सहचर हैं।

इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए, तुलसीदास ने प्रकृति का उपयोग लोक–मंगल और नीति के उपदेश देने के लिए एक सशक्त माध्यम के रूप में किया। उन्होंने प्रकृति के उदाहरणों से जीवन के गहरे सत्य समझाए। उदाहरण के लिए–

"बरषहिं जलद भूमि निअराए, जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।"

विलासिता और शृंगार के रंगों में डूबे रीतिकाल में प्रकृति का दायरा थोड़ा सीमित हो गया। यहाँ कवियों ने प्रकृति का वर्णन मुख्य रूप से नायिका के नख–शिख सौंदर्य को निखारने या उपमाएँ देने के लिए ही किया। इस काल में रूढ़िगत तरीके से शृंगार रस को गहरा करने के लिए प्रकृति के 'उद्दीपन' रूप को ही प्राथमिकता दी गई। कवियों ने षड्‌ऋतु–वर्णन और अलंकारों के माध्यम से प्रकृति को अपने काव्य में जगह दी।

हालाँकि, सभी कवि एक जैसे नहीं थे। जहाँ सेनापति ने प्रकृति का बेहद 'सूक्ष्म' और मौलिक निरीक्षण किया, वहीं पद्‌माकर ने प्रकृति के जीवंत और गतिशील चित्र उकेरे। इनके अलावा बिहारी, देव और केशवदास जैसे कवियों ने भी अपनी अनूठी लेखनी से हिंदी काव्य–जगत में प्रकृति–चित्रण को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आधुनिक कालीन प्रकृति का रूप

"भारत में प्राचीन काल से ही प्रकृति एवं पर्यावरण का अटूट सम्बन्ध रहा है तथा धार्मिक ग्रन्थों में प्रकृति को जो स्थान प्राप्त है वह अतुलनीय है।"[2] आधुनिक काल में जहां सभी तरह बदलाओं से जुड़ी सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, सांस्कृतिक, बदलाओं से गुजर रहा था, उसके सबसे प्रभाल प्रभाव हम उस समय के साहित्य में देख सकते है। गद्य के प्रबल विकास के साथ कविता भी अपने काम कर रहा था ।

प्रकृति–चित्रण का सबसे विराट और परिष्कृत रूप हमें छायावादी युग में देखने को मिलता है। यहाँ प्रकृति 'उद्दीपन' की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकलकर सहचरी, प्रेमिका और माता जैसे कई रूपों में अवतरित हुई। इस युग में न केवल पुरानी परिपाटी के अनुसार प्रकृति को मानवीय संवेदनाओं से जोड़ा गया, बल्कि उसके मौलिक स्वरूप और सूक्ष्म भावों का भी अद्‌भुत वर्णन किया गया।

छायावाद के चार प्रमुख स्तंभ–जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा– ने अपनी लेखनी से मानो एक नई दुनिया ही रच डाली। इन कवियों ने प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है, जिसमें उसका 'आलम्बन' रूप सर्वप्रमुख है। यहाँ कवि प्रकृति की मायावी सुंदरता में खोकर उसके अनन्य उपासक बन गए हैं और मुग्ध होकर उसका सीधा व सजीव चित्रण किया है। हिंदी साहित्य में 'प्रकृति के सुकुमार कवि' कहे जाने वाले सुमित्रानंदन पंत की ये पंक्तियाँ इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं–

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया, बाले! तेरे बाल–जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन?"

प्रकृति का 'मानवीकरण' छायावादी युग की सबसे विशिष्ट पहचान है। इस दौर के कवियों ने प्रकृति को निर्जीव नहीं माना, बल्कि उसके सूक्ष्म से सूक्ष्मतम अंशों में भी मानवीय संवेदनाओं और चेतना को महसूस किया।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'संध्या सुंदरी' इसका बेजोड़ उदाहरण है। इसमें उन्होंने ढलती हुई शाम को महज एक प्राकृतिक घटना नहीं, बल्कि आकाश से उतरती हुई एक 'सुंदरी नायिका' के रूप में चित्रित किया है। इस मानवीकरण ने प्रकृति और जगत के रिश्तों को एक बिल्कुल नया और गहरा अर्थ दे दिया है। उदाहरण के लिए–

"दिवसावसान का समय मेघमय आसमान से उतर रही है वह संध्या–सुंदरी परी–सी धीरे, धीरे, धीरे।"

जूही की कली' भी निराला की काव्य–यात्रा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पड़ाव है। इस रचना ने प्रकाशित होते ही हिंदी काव्य–जगत में एक नई हलचल पैदा कर दी थी।

यह कविता प्रकृति के मानवीकरण का बेजोड़ नमूना है। इसमें निराला जी ने 'जूही की कली' को एक सोती हुई मुग्धा नायिका और 'पवन' यानि मलयानिल को एक प्रेमी नायक के रूप में कल्पित किया है। कविता में नायक और नायिका के बीच के प्रेमपूर्ण मिलन और शृंगार का जो सजीव चित्रण उन्होंने किया है, वह पाठकों को मंत्रमुग्ध कर देता है।

"विजन–वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग–भरीकृस्नेह–स्वप्न–भग्न—
अमल–कोमल–तनु तरुणी—जुही की कली,"

छायावादी काव्य में प्रकृति का 'रहस्यात्मक रूप' भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस दिशा में महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत का योगदान अद्वितीय रहा है।

इन दोनों कवियों ने प्रकृति को केवल भौतिक वस्तु नहीं माना, बल्कि उसके कण–कण में उस 'परम सत्ता' की छाया देखने का प्रयास किया है। उनके लिए प्रकृति उस अज्ञात प्रियतम का ही एक रहस्यमय प्रतिबिंब है, जहाँ फूल, नदियाँ और तारे उस विराट शक्ति का संकेत देते प्रतीत होते हैं।

"हे विराट! हे विश्व–देव! तुम कुछ हो, यह तो है आभास। तुम हो, मैं हूँ, और विश्व है, यह सब है तुम में ही विलास।" – कामायनी – पंत

"मैं नीर भरी दुख की बदली! स्पंदन में चिर निस्पंद बसा, क्रंदन में आहत विश्व हँसा।"– महादेवी वर्मा

प्रगतिवाद तक आते–आते कवियों का रुझान 'कल्पना' की रंगीन दुनिया से हटकर कठोर 'यथार्थ' की ओर मुड़ने लगा। औद्योगीकरण, मशीनीकरण, वर्ग–संघर्ष और साम्राज्यवाद जैसी

चुनौतियों से जूझते समाज का सच्चा चित्रण करने वाले इन कवियों ने प्रकृति के नग्न और कठोर सत्यों को उजागर किया। अब प्रकृति का वह कोमल और सुकुमार रूप पीछे छूट गया था; उसका स्थान श्रमिक वर्ग के पसीने और संघर्ष ने ले लिया। शोषक और शोषितों में बंटे समाज में क्रांति की भावना जाग उठी थी, जिसके चलते प्रकृति ने भी अपनी सुंदरता का चोला उतार फेंका और वह उग्र रूप धारण कर पीड़ितों के आश्रय के रूप में सामने आई। खेत, खलिहान, फसल, बादल और वर्षा जैसे प्राकृतिक उपादानों को कवियों ने अपनी बात कहने का सशक्त माध्यम बनाया।

प्रगतिवाद की शुरुआत करने वालों में हम सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का नाम भी जोड़ सकते हैं। इन्होंने जिस प्रकृति का वर्णन पहले कोमलता से किया था, आगे चलकर उसी के माध्यम से 'सर्वहारा वर्ग' की पीड़ा को भी उकेरा।

पंत जी की 'ग्राम्या' और 'भारतमाता' जैसी रचनाएँ, तथा निराला जी की 'कुकुरमुत्ता', 'वह तोड़ती पत्थर' और 'बादल राग' जैसी कविताओं में तपती हुई जनता का संघर्ष साफ दिखाई देता है। इस धारा को आगे बढ़ाने में त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन जैसे कवियों का नाम भी अत्यंत उल्लेखनीय है।

प्रयोगवाद तक आते–आते प्रकृति का चित्रण भावनात्मक से अधिक 'बौद्धिक' हो गया। यहाँ प्रकृति नए और प्रयोगात्मक रूपों में सामने आई, जो आधुनिक मानव की 'कुंठा' और 'अकेलेपन' को दर्शा रही थी।

अज्ञेय जी की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' इसका बेहतरीन उदाहरण है। इसमें उन्होंने 'नदी' और 'द्वीप' के प्रतीकों के माध्यम से व्यक्ति और समाज के जटिल रिश्तों को बड़ी गहराई से स्पष्ट किया है।

"हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत कूल सब गोलियाँ उसकी गढ़ी हैं।"[3]

इनके अलावा, शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जैसे कवियों ने भी अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से प्रकृति के नित–नए और अनूठे रूपों को रेखांकित किया है।

2. समकालीन कविता में प्रकृति का बदलता स्वरूप

समकालीन दौर, जो निरंतर बदलावों का दौर है, उसमें चिंतन की नई दिशाएँ भी सामने आ रही हैं। आज का समकालीन कवि प्रकृति की बिगड़ती स्थिति को लेकर बेहद चिंतित है।

"समकालीन पर्यावरण का विषैला माहौल समकालीन कविता के तनावग्रस्त परिवेश का एक कारण है।[4]"

"यद्यपि आदिकाल से काव्य में पर्यावरणीय अभिव्यक्ति मिलती है, लेकिन समकालीन कवियों ने समसामयिक परिदृश्यों को मूर्त किया है। इनमें नयी पीढ़ी के अतिरिक्त वे कवि भी शामिल हैं, जो पूर्व की पीढ़ियों से लेखन कर रहे हैं, जिन्होंने समकालीन राष्ट्रीय परिदृश्य से प्रभावित होकर युगीन धड़कनों को लय दी है। इनमें अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, नरेश मेहता, दुष्यंत कुमार, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, कुमार विकल, बलदेव वंशी, नरेंद्र मोहन, चंद्रकांत देवताले, राजकुमार चौधरी, गोरख पांडेय, राजेश जोशी, अरुण कमल, विष्णुनागर, मंगलेश डबराल, असद जैदी, ज्ञानेंद्रपति, सुमनराजे एवं पुष्पिता के अतिरिक्त एकांत श्रीवास्तव, मदन कश्यप, अरुण आदित्य, गीत चतुर्वेदी, काव्यानी, श्रीकांत जोशी, कुमार अरुण, विद्याभूषण, कुमार विश्वबंधु, आशुतोष झा, राहुल राजेश और पंकज चतुर्वेदी जैसे नयी पीढ़ी के कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।"[5]

आधुनिकता और विकास के नाम पर हम अपनी ही प्रकृति का निर्मम दोहन कर रहे हैं। शहरीकरण के दुष्परिणाम– जैसे प्रदूषण, वनों की अंधाधुंध कटाई और गहराता जल संकट– अब विकराल रूप ले चुके हैं। सच तो यह है कि आधुनिक बनने की होड़ में मनुष्य जो भी क्रियाकलाप कर रहा है, उसका सबसे भयानक परिणाम प्रकृति को ही झेलना पड़ रहा है।

ऐसे समय में, कविता साहित्य का वह सशक्त माध्यम है जो न केवल समाज के इन बदलावों को दर्ज करती है, बल्कि समाज की सोच बदलने की ताकत भी रखती है। आज के कवि इस विनाशलीला के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं। वे अपनी कविताओं के माध्यम से प्रकृति के इस मूक 'चीत्कार' को हमारे सामने ला रहे हैं, ताकि हम समय रहते सचेत हो सकें।

प्रकृति का दोहन – औद्योगीकरण के इस दौर में मानव अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए प्रकृति की 'बलि चढ़ाने' को आतुर हो गया है। जबकि सत्य यह है कि प्रकृति के बिना मानव जाति का अस्तित्व ही असंभव है। दुर्भाग्यवश, आज का मनुष्य इस बोध को पूरी तरह भुला चुका है।

शहरीकरण और विकास के नाम पर जंगलों और प्राकृतिक संपदा का विनाश किया जा रहा है। हम यह नहीं समझ पा रहे कि प्रकृति का यह अंधाधुंध दोहन, असल में हमारे ही वजूद का दोहन है। शहरीकरण के नाम पर प्रकृति को जो अत्याचार झेलना पड़ रहा है, उसका 'क्रंदन' हम समकालीन कविताओं में साफ सुन सकते हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता 'थोड़ी धरती पाऊँ' इसी वेदना का एक मार्मिक उदाहरण है। इसमें कवि की हार्दिक इच्छा है कि वह कहीं थोड़ी सी ज़मीन पाकर अपना एक बगीचा लगाए, जहाँ फूलों, फलों और पक्षियों का बसेरा हो और शांति मिले। लेकिन विडंबना यह है कि उसे अपने आस–पास इंच भर भी धरती नहीं मिलती। अपनी इसी पीड़ा को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं–

"लेकिन एक इंच धरती भी
कहीं नहीं मिल पाई
एक पेड़ भी नहीं, कहे जो
मुझको अपना भाई।"

अपनी इसी विवशता के चलते, कवि हर संभव जगह, यहाँ तक कि अपने परिचितों और दोस्तों से भी थोड़ी सी जमीन की गुहार लगाता है। लेकिन विडंबना यह है कि उसे कहीं भी वह 'जीवन–दात्री' नहीं मिलती, जो एक सुनहरे और स्वस्थ जीवन का आधार है।

"बच्चे और पेड़ दुनिया को
हरा–भरा रखते हैं
नहीं समझते जो, दुष्कर्मों
का वे फल चखते हैं।
आज सभ्यता वहशी बन,
पेड़ों को काट रही है
ज़हर फेफड़ों में भरकर
हम सब को बाँट रही है।[6]"

आज जिसे हम 'सभ्यता' कहते हैं, उसके नाम पर हम प्रकृति की जो हत्या कर रहे हैं, उसका भयानक अंजाम कवि हमें साफ़ दिखाते हैं। वे हमें चेतावनी देते हैं कि हमारे इन दुष्कर्मों का फल एक दिन हमें ही 'निगल' लेगा।

समकालीन कवियित्री जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता 'नदी, पहाड़ और बाज़ार' में इससे भी अधिक भयावह स्थिति को हमारे सामने लाती हैं। उन्होंने प्रकृति के विनाश का अत्यंत मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। वे बच्चों यानी आधुनिक पीढ़ी के सामने प्राकृतिक संपदा के पुराने सुनहरे दिनों और आज की उसकी दुर्दशा के अंतर को स्पष्ट करती हैं।
सूखकर पगडंडी बन चुकी नदियाँ, दरारों में सिमटते पहाड़ और कब्रिस्तान में तब्दील होते खलिहान – ये सब उसी विनाश के जीते–जागते उदाहरण हैं। बाज़ारीकरण के इस क्रूर दौर में प्रकृति अपनी स्वायत्तता खो चुकी है और बाज़ार की मंडी में केवल एक 'बिकाऊ वस्तु' बनकर रह गई है–

"क्या–क्या लेना है? पूछने लगा दुकानदार।
भैया! थोड़ी बारिश, थोड़ी गीली मिट्टी,
एक बोतल नदी, वो डिब्बाबंद पहाड़
उधर दीवार पर टँगी एक प्रकृति भी दे दो,
और ये बारिश इतनी महँगी क्यों?
दुकानदार बोला रू यह नमी यहाँ की नहीं!
दूसरे ग्रह से आई है,
मंदी है, छटाँक भर मँगाई है।[7]"

बाज़ारीकरण के इस दौर में, हम अपने ही 'वजूद' को बेचकर, आज प्रकृति को वापस पाने के लिए तरस रहे हैं।
यह मनुष्य की सबसे बड़ी विडंबना है कि जब प्रकृति हमारे साथ थी, तब हमने उसे तिरस्कृत कर दिया । और आज, जब वह केवल हमारी स्मृतियों तक सिमट कर रह गई है, तब हम उसे दोबारा अपनाने के लिए छटपटा रहे हैं।
जल का बाज़ारीकरण और विरुपण– जल, जो हमारे जीवन की नाड़ी का एक अभिन्न अंग है, वह आज बाजार का केवल एक 'उत्पाद' मात्र बनकर रह गया है। हमारा पालन–पोषण करने वाली वह 'जीवन–धारा' आज अपना विराट अस्तित्व खोकर महज बोतलों में सिमट कर रह गई है। केवल उपभोग की वस्तु बन जाने से आज उसकी अपनी गरिमा समाप्त हो चुकी है।
जल के इस बाज़ारीकरण का एक सशक्त उदाहरण हम कुंवर नारायण की कविता 'पानी की प्रार्थना' में देख सकते हैं। आत्मकथ्य शैली में लिखी गई इस कविता में पानी स्वयं अपनी बेबसी और निस्सहाय अवस्था को बयां करता है।
किसी प्यासे जीव को जीवन देने की पानी की जो सहज और प्राकृतिक इच्छा होती है, उसका बहुत ही मार्मिक चित्रण इस कविता में किया गया है।

कल एक वो आई
और बैठ गई मेरे बाजू में
पहले चौंककर उसने इधर उधर देखा
फिर अपनी लम्बी चोंच गड़ा दी मेरे सीने में
और यह मुझे अच्छा लगता रहा प्रभु
लगता रहा जैसे घूँट घूँट
मेरा जन्मांतर हो रहा है एक चील के कंठ में
कंठ से रक्त में
रक्त से फिर एक नई चील में।

वही पानी, जो पृथ्वी के आदिम निवासियों में से एक है और जो ब्रह्मांड के अन्य कई ग्रहों पर भी मुक्त रूप से विचरण करता है, आज अपनी ही धरती पर बोतलों में बंद होकर रह गया है।
लेकिन, इससे भी भीषण सत्य यह है कि यह सब उन सत्ताधारी अधिकारियों की अनुमति और मिलीभगत से ही हो रहा है। यहाँ पानी स्वयं अपनी इस दुर्गति के लिए जिम्मेदार लोगों के षड्यंत्र का पर्दाफाश कर रहा है।

पर चिन्ता की कोई बात नहीं
यह बाजारों का समय है
और वहाँ किसी रहस्यमय स्रोत से
मै हमेशा मौजूद हूं
पर अपराध क्षमा हो प्रभु
और यदि मै झूठ बोलूं
तो जलकर हो जाऊं राख
कहते हैं इसमें–
आपकी भी सहमति है।[8]

प्रकृति के साथ संस्कृति का अवसान – प्रकृति, जो हमारे अस्तित्व का मूल आधार है, उसके विनाश का सीधा प्रभाव हमारे ही जीवन पर पड़ रहा है। हमारी संस्कृति और दैनिक जीवन, जो प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं, उनका ह्रास हम अपनी आँखों के सामने देख सकते हैं।
आदिवासी कवयित्री पार्वती तिर्की अपनी कविता 'नकदौना चिड़िया' के माध्यम से प्रकृति और मानव के बीच एक अनोखी भाषा को रेखांकित करती हैं। उनकी कविता में फूलों के खिलने और बारिश के होने जैसी घटनाओं में, मनुष्यों और चिड़ियों के बीच मानो एक गुप्त संवाद स्थापित होता दिखाई देता है।

इस तरह कुडुखर और नकदौना ने
संवाद की एक साझी भाषा
निर्मित की,
और
आसारि के गीत
साथ में गाए।[9]

आज आधुनिकता की चकाचौंध के कारण, प्रकृति और मानव के बीच की इस 'साझी भाषा' के खोने के साथ–साथ, हमारी अपनी संस्कृति भी धीरे–धीरे नष्ट होती जा रही है।

'विस्थापन' और 'विकास' के बीच का द्वंद्व– विस्थापन और विकास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरा संभव नहीं है। लेकिन, संघर्ष वहीं पैदा होता है, जब विकास के नाम पर प्रकृति का उत्पीड़न किया जाता है।
कुंवर नारायण की कविता 'एक वृक्ष की हत्या' इसी विनाशकारी प्रवृत्ति का एक प्रमुख उदाहरण है। इसके शीर्षक में 'कटाई' के स्थान पर 'हत्या' शब्द का प्रयोग करके कवि ने इस कृत्य की भीषणता को उजागर करने का प्रयास किया है। कविता में कवि ने वृक्ष का मानवीकरण करते हुए उसे घर के दरवाजे पर तैनात एक 'बूढ़े चौकीदार' के रूप में दर्शाया है, जो सर्दी, गर्मी और बारिश– सब कुछ झेलकर भी, अविचल भाव से हमें सुरक्षा और छांव देता आ रहा था।

पुराने चमड़े का बना उसका शरीर
वही सख़्त जान
झुर्रियोंदार खुरदुरा तना मैला–कुचौला,
राइफ़िल–सी एक सूखी डाल,
एक पगड़ी फूल पत्तीदार,
पाँवों में फटा–पुराना जूता
चरमराता लेकिन अक्खड़ बल–बूता
धूप में बारिश में
गर्मी में सर्दी में
हमेशा चौकन्ना
अपनी ख़ाकी वर्दी में
दूर से ही ललकारता, "कौन?"
मैं जवाब देता, "दोस्त!"

और पल भर को बैठ जाता
उसकी ठंडी छाँव में
लेकिन, तथाकथित विकास के नाम पर उसी रक्षक को हटाने का प्रयास किया गया, जिसमें लोग सफल भी हो गए। अब उस 'विकास रूपी आंधी' ने उस पुराने चौकीदार का नामो–निशान तक मिटा दिया है।

दरअसल, शुरू से ही था हमारे अंदेशों में
कहीं एक जानी दुश्मन
कि घर को बचाना है लुटेरों से
शहर को बचाना है नादिरों से
देश को बचाना है देश के दुश्मनों से
बचाना है—
नदियों को नाला हो जाने से
हवा को धुआँ हो जाने से
खाने को ज़हर हो जाने से :
बचाना है—जंगल को मरुस्थल हो जाने से,
बचाना है—मनुष्य को जंगल हो जाने से। [10]

यहाँ कवि कुंवर नारायण मनुष्य को 'जंगली' हो जाने से बचाने की चेतावनी देते हुए, विकास का असली और क्रूर चेहरा सामने लाने का प्रयास कर रहे हैं।
विकास के इसी विध्वंसक चेहरे को उजागर करने वाली अखिलेश सिंह की भी एक कविता है – पेड़ की मौत'। इस कविता में कवि ने पेड़ के काटे जाने को महज एक सामान्य घटना नहीं, बल्कि एक 'चीख' और 'हत्या' के रूप में चित्रित किया है।

मैंने मर जाते हुए देखा है
बहुत से पेड़ों को
वे चीख़ते हुए गिर पड़ते थे
और धूल का गुबार उठता था
एक सूनापन हमेशा के लिए थिर जाता था
कई बार उन्हें बहुत देर तक मारा गया

इस कविता में मानव की स्वार्थपरता को भी बखूबी दिखाया गया है। यह विडंबना ही है कि अपना सब कुछ न्योछावर कर देने वाले पेड़ों के प्रति भी मनुष्य में कोई संवेदना या वफ़ादारी नहीं बची है; वह उन्हें मारने के लिए सदैव तत्पर रहता है।
इस कविता में 'विस्थापन' का अर्थ केवल पेड़ों के उजड़ने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह संपूर्ण पारिस्थितिक तंत्र के विनाश को दर्शाता है।

कुछ पेड़, गिरे और टिके रहे, देते रहे फल, आश्रय और मनो–विनोद
लेकिन फिर उनको भी मारा गया
पेड़ मर रहे थे चिड़ियाँ चिंचिया रही थीं
अंडे फूट रहे थे, संसार उजड़ रहा था
संसार उजड़ गया, पेड़ मर गए
पेड़ मर रहे थे, मैं छटपटा रहा था

यह सब देखकर भी कवि मौन धारण किए हुए है। तात्पर्य यह है कि 'विकास' के इस चक्रव्यूह में, हर तरह का अन्याय झेलकर भी चुप रह जाना ही अब लोगों की नियति बन चुकी है।
इस संवेदनहीन स्थिति को रोकने में लोग खुद को पूरी तरह अक्षम पा रहे हैं। वे न चाहते हुए भी प्रकृति के इस 'मृत्युकांड' के मूक साक्षी बनने को विवश हैं।

मैं भी गवाह बना बड़ी–बड़ी कायाओं के सामूहिक हत्याकांड का
वे पेड़ मेरी स्मृतियों में हैं
उनके भूतो को दबा दिया गया है और
वहाँ मनुष्य की सफलता के झंडे फहरा रहे हैं।

प्रकृति की शाश्वतता और चक्रीय जीवन – इतने विनाश के बावजूद, प्रकृति हमेशा हमारे लिए सुरक्षा की एक छत्रछाया बनकर खड़ी रही है। मनुष्य चाहे जो भी करे, लेकिन प्रकृति हमेशा निष्काम भाव से अपना कर्तव्य निभाती रही है और हमारा पालन–पोषण करती रही है।

प्रकृति की यही 'अनश्वरता' और 'जीजीविषा' हमारे समाज के कई कवियों का प्रिय विषय रही है।
केदारनाथ सिंह द्वारा रचित कविता 'यह पृथ्वी रहेगी' इसी उम्मीद और विश्वास का एक अद्वितीय उदाहरण है। इसमें कवि ने प्रकृति की शाश्वतता को रेखांकित किया है। उनका मानना है कि चाहे सब कुछ नष्ट हो जाए, इन सबके बावजूद यह पृथ्वी और हमारी प्रकृति हमेशा बची रहेगी।
मुझे विश्वास है
यह पृथ्वी रहेगी
यदि और कहीं नहीं तो मेरी हड्डियों में
यह रहेगी जैसे पेड़ के तन में
रहते हैं दीमक
जैसे दाने में रह लेता है घुन
यह रहेगी प्रलय के बाद भी मेरे अंदर
यदि और कहीं नहीं तो मेरी ज़बान
और मेरी नश्वरता में
पानी गाता है
यह परित्ववि रहेगी[11]

निष्कर्ष
समकालीन हिंदी कविता का यह बदला हुआ स्वरूप, प्रकृति के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए समय की मांग है। आज के साहित्य में प्रकृति अपने पारंपरिक 'मोहक' और रोमानी आवरण से बाहर निकल आई है। अब वह केवल सौंदर्य का प्रतीक नहीं, बल्कि एक पीड़ित सत्ता है जो अपने जीवन के अंतिम क्षणों में हमसे प्राण–रक्षा की गुहार लगा रही है। यह साहित्य केवल पर्यावरण की समस्याओं को उजागर ही नहीं कर रहा, बल्कि हमें यह कठोर चेतावनी भी दे रहा है कि यदि हम अब भी नहीं चेते, तो हमारी यह धरती पूरी तरह नष्ट हो जाएगी।

संदर्भ सूची

1. पी. वी., बेबी सुमंगला. समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य. अमन प्रकाशन, 2022.संस्करण – प्रथम, सन 2022, पृष्ठ – 240
2. आधुनिक पर्यावरण समस्याओं का वैदिक समाधान, पृ.– 14
3. अज्ञेय. सन्नाटे का छंद. संपादक अशोक वाजपेयी, वाग्देवी प्रकाशन, 1997.
4. पी. वी., बेबी सुमंगला. समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य. अमन प्रकाशन, 2022.संस्करण – प्रथम , सन 2022, पृष्ठ – 241
5. डॉ. विनय कुमार पाठक एवं डॉ. श्रीमती जयश्री शुक्ल, हिंदी व्यंग्य कर्म एवं समकालीन परिदृश्य,
6. प्र. 138–139
7. सक्सेना, सर्वेश्वरदयाल. "थोड़ी धरती पाऊँ." दूर्वा (भाग–2), एनसीआरटी, 2022, पृष्ठ 23.
8. सिंधु, एस. एल., और पी. आई. मीरा, संपादक. समन्वय. लोकभारती प्रकाशन, 2025.

9. सिंधु, एस. एल., आदि, संपादक. संचार और रचनात्मक लेखन का विकास भाग दो. राजकमल प्रकाशन, 2024.
10. सिंधु, एस. एल., और पी. आई. मीरा, संपादक. हिन्दी साहित्य में मानविकता का आलोक. वाणी प्रकाशन, 2025.
11. नारायण, कुँवर. प्रतिनिधि कविताएँ. राजकमल प्रकाशन, 2008.
12. सिंह, केदारनाथ. प्रतिनिधि कविताएँ. संपादक परमानंद श्रीवास्तव, राजकमल प्रकाशन, 1985.